जैन-धर्म का जीवन-संदेश

उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

श्री नमस्कार महामंत्र

नमो अरिहंताणं,
नमो सिध्दाणं,
नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं,
नमो लोए सव्व साहूणं

एसो पंचनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलम्॥

जैन धर्म का जीवन-सन्देश

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री, सर्कल

उदयपुर ३१३००१

अर्थ सौजन्य

श्री शान्तिलाल जी पटवा पारमार्थिक ट्रस्ट,
द्वारा शैतानमल इन्द्रमल जैन,
रतलाम (म. प्र.)।

•

मोतीलाल शान्तिलाल श्रीश्रीमाल
लोनावला (महाराष्ट्र)

• संजय सुराना के लिए
कामधेनु प्रिंटर्स एंड पब्लिसर्स,
अवागढ़ हाऊस, आगरा- २८२००२

• वि. स. २०४७ श्रावण
ईस्वी सन् १९९० जुलाई

• लागत मूल्य : मात्र दो रुपया पचास पैसा

जैन धर्म का जीवन-सन्देश

यह पृथ्वी, जिस पर हम निवास करते हैं, विविध प्रकार के जीव-जन्तुओं से भरी पड़ी है। उनके अनेक प्रकार के रंग हैं, रूप हैं, आकार हैं, प्रकार हैं और अन्य अनेक प्रकार की भिन्नताएं-विभिन्नताएं भी दृष्टि-गोचर होती हैं।

यद्यपि ये भिन्नताएं हैं, सभी प्राणी एक-दूसरे से अलग-थलग दिखाई देते हैं, किन्तु इन सभी प्राणियों में एक तत्व समान है और वह है जीव मात्र की स्वभावगत परस्पर उपकारिता। यह परस्पर उपकारिता का तत्व इस समस्त विश्व में, जड़ और चेतन में, ऐसा अनुस्यूत है कि इसे सभी जीवों की जीवन-प्रक्रिया का सामान्य नियम और पारस्परिक सम्बन्ध का स्रोत माना जा सकता है।

इस परस्पर उपकारिता का एक छोटा-सा उदाहरण लें। हमारे शरीर में स्थित कार्बन-डाई-ऑक्साइड जिसे हम उच्छ्वास द्वारा छोड़ते हैं वह पेड़-पौधों-वनस्पति जगत के जीवों को जीवनी शक्ति प्रदान करता है और

पेड़-पौधों द्वारा उत्सर्जित ऑक्सीजन हमारे (मानव और पशु-पक्षियों तथा कीट-पतंगों के लिए) जीवन-धारण के लिए अनिवार्य तत्व है। अर्थात् एक-दूसरे का विष तत्व, जहरीला श्वास एक-दूसरे के लिए जीवनदायी बनता है।

इसी प्रकार जल वनस्पति-जगत के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है तो वनस्पति-जगत-वृक्ष जल को आकर्षित करके भूमि को जीवित-मृदा का रूप देकर भूमि को हरियाली से संपन्न करते हैं और जल एवं वायु तो समस्त प्राणीमात्र के लिए जीवन हैं ही।

जैन धर्म की इस वैज्ञानिक अवधारणा को आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र के एक सूत्र में प्रगट किया है—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।

जीव परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते हैं, सहायता देते हैं, जीवन-निर्वाह में, सुख- पूर्वक जीवन जीने में सहभागी-सहयोगी बनते हैं।

विश्व में मानव ही विशिष्ट मेधा का धनी है, विवेकवान है। साथ ही उसका शरीर भी सभी प्रकार से सक्षम है, उसे वचन-संपदा भी

प्राप्त हुई है, अतः उसको ही विशेष रूप से लक्ष्य में रखकर उपरोक्त सूत्र में जीवन-सन्देश दिया गया है कि उसे परस्पर सहयोग करते हुए अपना जीवन बिताना चाहिए ।

अतः इस सूत्र को संक्षेप, किन्तु सार रूप में जैनधर्म का जीवन-सन्देश कहा जा सकता है। सहकारिता, सह-अस्तित्व और सहयोगी भावना के अन्य सभी सिद्धान्त इसी बीज-सूत्र के फल-फूल हैं जो आज सम्पूर्ण विश्व में मान्यता प्राप्त हैं और मानवविकास का मूलाधार हैं।

जीओ और जीने दो

भगवान महावीर ने मानव-मात्र को **आय तुले पयासु**—अपने तुल्य सबको समझो, का आधारभूत सिद्धान्त दिया है जो आधुनिक परिवेश में 'जीओ और जीने दो' के रूप में सर्वत्र प्रचारित हो रहा है।

हम स्वयं सुख से जीते हैं और अन्य किसी व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न नहीं करते हैं, तो भगवान महावीर के

सन्देश का हम एकांगी अर्थ ही समझते हैं। वास्तव में यह सन्देश सहयोगपरक है। ठीक है, हम किसी के जीवन में अवरोध उत्पन्न नहीं करें; किन्तु साथ ही उसे वांछित सहयोग भी दें जिससे हमारी तरह वह भी सुखी और उन्नत जीवन जी सके।

भगवान महावीर के इस उपदेश में जैन धर्म का जीवन-सन्देश निहित है; जिसका आधार है पारस्परिक सहयोग। प्राणी मात्र के साथ सहयोग, परस्पर उपकार, चाहे वह प्राणी कितना भी क्षुद्र अथवा विशाल हो, इस सन्देश की अन्तर्निहित अनुस्यूत भावना है।

भगवान महावीर का यह सबसे मुख्य व आधारभूत सिद्धान्त है कि तुम इस संसार में सिर्फ अपने लिए ही नहीं जीते हो, किंतु दूसरों के लिए भी जीते हो; आत्म-सापेक्ष नहीं, किन्तु पर-सापेक्ष बनकर जीना ही मानव जीवन है। यदि प्रत्येक मनुष्य या प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे के सुख-दुःख का ध्यान रखकर चले तो कोई किसी की जीवन यात्रा में बाधक तो होगा ही नहीं किन्तु साधक और सहयोगी बनेगा।

जीवन की विराटता

जीवन बहुत विराट है। इस विश्व में सर्वत्र जीवन की चहल-पहल है। कल-कल करते निर्झरों में, सर-सर बहती सरिताओं में तथा उत्ताल तरंगों से उछलते सागर में जीवन है तो मंद-मंद बहती समीर में और झंझावात में भी जीवन हिलोरें ले रहा है। हरित, वनस्पति में सर्वत्र जीवन की ही हलचल व्याप्त है। पशु-पक्षी, तथा प्राणिमात्र के साथ सहयोग करना, इन्हें विनष्ट न करना, सावधानीपूर्वक इस ढंग से इन सब का इस तरह का उपयोग करना जिससे किसी की हानि न हो—यह सब मानव मात्र का कर्तव्य है। यही जीवन-सन्देश भगवान महावीर ने मानव को दिया है।

मुस्लिम धर्मग्रन्थ कुरान में एक आयत आती है जिसका अर्थ है—"खुदा ने धरती की सारी नियामतें इन्सान के लिए पैदा की हैं और इन्सान का फर्ज है कि इन सबको इस्तैमाल करे लेकिन साथ ही हिफाजत भी करे, उन्हें खत्म न करे।"

कुरान के इन शब्दों में भी भगवान महावीर

के ही 'जीओ और जीने दो' की अनुगूँज सुनाई दे रही है।

भगवान महावीर के इस सिद्धान्त को हमें जीवन के विशाल परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए।

जीवन का आयाम बहुत विस्तृत है और वह भी विशेष रूप से मानव-जीवन का। इसका कारण यह है कि पशु-पक्षी-कीट और अन्य क्षुद्र प्राणी केवल शारीरिक स्तर पर ही जीते हैं। जबकि मनुष्य शारीरिक स्तर पर तो जीता ही है; साथ ही मानसिक, बौद्धिक, वैचारिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक स्तर पर भी जीता है। नैतिकता और चरित्र का भी उसकी जीवन-प्रणाली में विशेष स्थान है। वह सिर्फ जीवन ही नहीं जीना चाहता अपितु सुखद, समृद्ध और सभी प्रकार से उन्नत जीवन जीना चाहता है। उसकी इच्छा है—समाज में उसे मान-सम्मान प्राप्त हो, लोग आदर-सत्कार करें, उसे प्रामाणिक समझें तथा अग्रगण्य स्थान दें।

इस सबके लिए ही उसे जैन धर्म के जीवन-सन्देश की आवश्यकता है कि वह दूसरों की उन्नति और समृद्धि में भी सहयोगी बने।

भगवान महावीर ने अपने प्रवचनों में बार-बार कहा है—

समाहिकारएणं तमेव समाहिं पडिलब्भइ

दूसरों को समाधि और शान्ति पहुंचाने वाला स्वयं भी समाधि और शान्ति का भागी होता है। इसलिए तुम्हारा जीवन निपट एकांगी नहीं; सामाजिक है, पर-सापेक्ष है। दूसरों को जीने दो, वे तुम्हें जीने देंगे।

इस प्रकार कोई किसी के जीवन में बाधक नहीं बनेगा।

जीवन-सन्देश का बहुआयामी रूप

जिस तरह जीवन विराट है, उसके अनेक आयाम हैं, अनेक विधाएँ हैं, उसी प्रकार जीवन-सन्देश भी बहुआयामी है। इसमें उन अनेक गुणों का समामेलन है, संयोजन है, समुच्चय है, जो सफल और सकल (संपूर्ण) जीवन के लिए आवश्यक हैं।

ये गुण आध्यात्मिक भी हैं, नैतिक भी, तथा मानसिक, चारित्रिक, सामाजिकता-परक, वैयक्तिक आदि रूप में इन गुणों के अनेक प्रकार

हैं। इनकी अनेक संज्ञाएं हैं।

इन गुणों के माध्यम से जैन धर्म के जीवन-सन्देश को समझें और उसे जीवन में साकार करने का प्रयास करें।

रत्नत्रय

जैन धर्म ने सर्वाधिक महत्व सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र पर दिया है। ये तीनों आध्यात्मिक क्षेत्र में तो महत्वपूर्ण हैं ही; व्यावहारिक जीवन में भी इनका महत्व कम नहीं है, अपितु किसी अपेक्षा से अधिक ही माना जा सकता है। हमें इन तीनों का अध्यात्म साधना के क्षेत्र में ही नहीं, जीवन व्यवहार के क्षेत्र में भी उपयोग करना है। तभी हम इनकी महत्ता जान सकेंगे।

यों जैनदर्शन मोक्षवादी दर्शन है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह दर्शन निवृत्तिप्रधान है। लेकिन उनका यह दृष्टिकोण एकांगी है।

इस धर्म ने निवृत्ति के साथ-साथ प्रवृत्ति को भी उचित महत्व दिया है। सच तो यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का ही समान महत्व

है। एक के अभाव में दूसरी पंगु के समान हो जाती है।

प्रवृत्ति, जहाँ अध्यात्म के क्षेत्र में प्रगति की दिशा-निर्देशक बनती है, वहीं व्यावहारिक जीवन को भी उन्नत करती है ।

जैन शास्त्रों में सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र को रत्न-त्रय की संज्ञा से अभिहित किया गया है । रत्न स्वयं प्रकाशित होता है, उसे अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती । वह स्वयं प्रकाशित होकर व्यक्ति के जीवन को भी प्रकाश से भर देता है, उसके जीवन-व्यवहार में चमक आ जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास का एक दोहा है—

राम नाम मणि दीप-धर,
जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो,
जो चाहसि उजियार॥

जैन दर्शन में यह रत्नत्रय—राम नाम रूप मणि है जो जीवन के बाहरी एवं आन्तरिक दोनों क्षेत्रों में ही प्रकाश देती है।

मणि अथवा रत्न के समान सम्यग्ज्ञानादि भी

जीवन में चमक-दमक उत्पन्न करते हैं। सम्यग्ज्ञान का अभिप्राय है—सच्चा ज्ञान, किसी भी वस्तु का यथार्थ बोध, और उस ज्ञान पर दृढ़ विश्वास होना सम्यग्दर्शन है; तथा उस ओर प्रवृत्ति करना सम्यक्चारित्र है।

एक व्यावहारिक उदाहरण लीजिए—

किसी व्यक्ति को दिल्ली से बम्बई जाना है, वह शीघ्र पहुँचना चाहता है तो उसको शीघ्रगामी साधनों की तलाश करनी आवश्यक है, जान लिया कि प्लेन शीघ्र पहुँचायेगा, फिर उसका समय, सीट बुकिंग (रिजर्वेशन), साथ ही यह विश्वास कि यह सकुशल बम्बई पहुँचा देगा, और फिर उसमें बैठना—यह सभी क्रियाएँ शीघ्र बम्बई पहुँचने के लिए आवश्यक हैं।

इसी प्रकार व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में, जीवन की हरेक गतिविधि में ज्ञान, विश्वास और तदनुकूल क्रिया-प्रवृत्ति का महत्व है। तीनों ही आवश्यक हैं—सफलता के लिए। कार्य की संपूर्णता के लिए।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में ज्ञान, विश्वास

और कर्म—तीनों संग-संग चलते हैं। एक सफल चिकित्सक उसे कहते हैं जिसे मानव शरीर व उसमें होने वाली बीमारियों का ज्ञान हो, फिर अपने निदान पर और अपनी चिकित्सा पद्धति पर, और कार्य पर विश्वास भी हो और उसका उचित उपयोग भी कर सकता हो ।

शिक्षा, चिकित्सा, शासन-प्रशासन, व्यापार-उद्योग जीवन-व्यवहार आदि किसी भी क्षेत्र में ये तीनों बातें आवश्यक हैं—ज्ञान, विश्वास और कार्य।

इसलिए यह आन्तरिक जीवन को आलोकित करने के साथ व्यावहारिक जीवन को भी आलोकित और संचालित करते हैं ।

इसीलिए भगवान महावीर ने रत्नत्रयी के रूप में प्रथम जीवन-सन्देश दिया है ।

नैतिक अथवा धार्मिक सूत्र

नैतिकता तथा धार्मिकता सुखी जीवन के प्रमुख आधार स्तम्भ हैं। अनैतिक तथा धार्मिकता विहीन व्यक्ति का स्वयं का जीवन भी दुःखी और संतप्त रहता है तथा समाज में भी वह विश्रृंखलता उत्पन्न करता है।

जैन धर्म की नैतिकता तथा धार्मिकता का मूल आधार अहिंसा है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि अनेक गुणों को भी अहिंसा की समग्रता के लिए अनिवार्य रूप से स्वीकृत किया गया है।

सत्य के लिए कहा गया है—**सच्चं खु अणवज्जं वयन्ति**—निर्दोष, अपापकारी सत्य बोलना चाहिए। ऐसा सत्य भी असत्य की ही कोटि में है जिससे किसी का दिल दुखे, जो मर्मकारी हो—जैसे चोर को चोर कहना। ऐसा कथन सत्य नहीं, गाली बन जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि सत्य भी वही सत्य है जिसमें अहिंसा की भावना अनुस्यूत हो अथवा जिसका आधार अहिंसा हो।

अहिंसा एक प्रकार की मानसिक शुद्धि है, मन की कोमलता और मृदुता है। मन जब शुद्ध, कोमल, मृदु होगा तो हमारी वाणी कभी भी कठोर, कर्कश, हृदय पर चोट करने वाली नहीं होगी। हमारे हाथ और हमारी आँखें, हमारा व्यवहार और व्यापार, किसी की चोरी नहीं करेंगे, हमारी इन्द्रियां दुष्कर्म नहीं करेंगी क्योंकि अहिंसा उन सबको पहले ही शुद्ध कर

चुकी होती है। तथा उनकी प्रवृत्ति को नियंत्रित भी करती है।

यही अहिंसा का लक्ष्य अचौर्य आदि अन्य सन्देशों का अभिप्रेत है। परिग्रह, चूँकि हिंसा का कारण है अतः उसको भी अत्यधिक अल्प करने का सन्देश जैन धर्म ने दिया है। मानव की यह विशेषता है कि वह तीव्र मेधा का धनी और चिन्तनशील प्राणी है, उसे विशिष्ट स्मरण शक्ति प्राप्त हुई है, वह अपने मस्तिष्क में युगों के अनुभवों को संचित रख सकने में सक्षम है। उसे सौन्दर्य-बोध भी है, और अद्‌भुत बुद्धि शक्ति भी उसके पास है। जिसका उपयोग वह स्वयं अपनी तथा प्राणी जगत की रक्षा-सुरक्षा में भी कर सकता है और विनाश में भी ।

प्रदूषण

मानव ने जब-जब भी अपनी बुद्धि की दिशा को भौतिक सुख-समृद्धि की ओर गतिशील किया है, तब-तब ही उपभोगवादी संस्कृति को पनपने का—बढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। इस उपभोगवादी संस्कृति के ही परिणामस्वरूप मानव प्राकृतिक तत्वों के साथ छेड़छाड़ करता

है, प्रकृति के दोहन के नाम पर उसका दो+हन दुहरा विनाश या विध्वंस करता है । प्रचारित किया जाता है कि इससे संपूर्ण मानव जाति का हित होगा; लेकिन वास्तव में यह कुछ गिने-चुने सत्ताधारी और धनाढ्य व्यक्तियों की स्वार्थपूर्ति तक ही सीमित रह जाता है; प्रकृति के अत्यधिक दोहन से जो प्रकृति का संतुलन बिगड़ता है, उस संतुलन को पुनः स्थापित करने के लिए प्रकृति जो करबट बदलती है, उससे उठे हुए भूचाल और बबंडर का फल संपूर्ण मानव-जाति को तो भोगना ही पड़ता है। साथ ही असंख्य क्षुद्र जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, जल और वनस्पति जगत भी क्षीणप्राय—नष्ट-सा हो जाता है।

आज लकड़ी के लिए प्राकृतिक वन सम्पदा का विनाश, चमड़े के लिए लाखों गाय-भैंस, भेड़, बकरी, सिंह, बाघ, भालू आदि की हत्याएं, हाथी दांतों के लिए सौम्य शाकाहारी हाथियों को मारना, मुलायम रोएँदार बाल व कोमल चमड़ी के लिए कराकुल भेड़ें, सील मछलियों की नृशंस हत्या, यह न केवल उनके विनाश तक ही

सीमित हैं, किन्तु इन वृक्षों, प्राणियों से वनों का, सरोवरों का, खेती-बाड़ी का भयंकर विनाश भी हो रहा है जो पर्यावरण के लिए भयंकर खतरा बन गया है। प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ रहा है। भयंकर दुष्काल व सूखा, विनाशकारी तूफान और बाढ़ें, नित नई बीमारियां, यह सब दूषित पर्यावरण के ही विनाशकारी परिणाम हैं, जो लाखों-करोड़ों मनुष्यों के लिए दुर्भाग्य बन रहे हैं।

अब विचारणीय यह है कि इस प्रदूषण को रोकने और विश्व के विनाश तथा असंतुलन की अवस्था न आने देने के लिए जैन धर्म ने क्या सन्देश दिया है?

यद्यपि यह सत्य है कि जैन शास्त्रों में कहीं पर भी प्रदूषण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न ही कहीं पर भी इससे बचने के स्पष्ट उपाय बताये गये हैं। लेकिन जैन धर्म ने जिस आचार संहिता का निर्माण किया है और जिस आचरण की प्रेरणा दी है, उससे प्रदूषण पैदा ही नहीं होता।

प्रदूषण कैसे नहीं होता? इसे अहिंसा के चिन्तन—आलोक में समझें।

अहिंसा से प्रदूषण की असंभावना

जैन धर्म के आचार में अहिंसा का प्रमुख स्थान है। वहाँ कहा गया है—किसी जीव को न मारना चाहिए, न सताना चाहिए और न उसे किसी प्रकार का दुःख, कष्ट और पीड़ा ही देनी चाहिए।

साथ ही यह भी तथ्य है कि जैन धर्म ने चलते-फिरते प्राणियों को तो जीव माना ही है, साथ ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव चेतना स्वीकार की है। आज का विज्ञान भी इन पाँचों स्थावरों—पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि में जीव का अस्तित्व स्वीकार करता है, चेतना मानता है।

जैन धर्म का जीवन-सन्देश है कि किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि अहिंसा के विधेयात्मक रूप का पालन करते हुए प्रत्येक जीव की यथासंभव सुरक्षा तथा उसका संरक्षण भी करना चाहिए।

एक-एक जीव-समुदाय की सुरक्षा का विचार करें।

भूमि-सुरक्षा—भूमि मानव को आधार देती है, साथ ही आहार भी। अधिक उत्पादन के लोभ में, जहरीले उर्वरकों का उपयोग, कीटनाशक दवाइयों का उपयोग, गहरी जुताई आदि के कारण भूमि की रक्षा करने वाले कीटों का भी विध्वंस, भूमि की उर्वरा शक्ति तथा पृथ्वीकाय के जीवों का विनाश हो रहा है। साथ ही कीटनाशक दवाइयाँ मानव-स्वास्थ्य के लिए भी अत्यधिक हानिकारक सिद्ध हो रही हैं।

साथ ही खनिज सम्पदा के दोहन की अति-तीव्र और अनियमित गति भी भूमि प्रदूषण फैला रही है ।

जल-सुरक्षा—इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के कारखाने, कॉस्मेटिक्स निर्माण करने वाली फैक्ट्रियाँ, रंग निर्माता तथा प्लास्टिक उद्योग के कचरे आदि से जल-प्रदूषण की गंभीर समस्या उत्पन्न हो गयी है। शुद्ध पेय जल का अभाव सा हो चला है।

वायु सुरक्षा—औद्योगिक सभ्यता के प्रतीक कारखानों की चिमनियों से निकले हुए धुएँ, तेजी से दौड़ते स्कूटर, कार, ट्रकों आदि से

उत्सर्जित डीजल-पेट्रोल की गन्ध से भरे धुएँ ने वायु को इतना प्रदूषित कर दिया है कि स्वच्छ वायु का अभाव-सा हो गया है। आज मानव साँस लेते हुए प्राणवायु के साथ कार्बन-डाई-ऑक्साइड भी फेफड़ों में भरता है। परिणाम-स्वरूप उसकी जीवनी शक्ति में कमी आ रही है। रोग प्रतिरोधक शक्ति का ह्रास हो रहा है, शारीरिक क्षमता में गिरावट आ रही है।

वायु प्रदूषण का एक अन्य भयंकर परिणाम वायुमंडल को दूषित करना है, ओजोन परत टूट रही है, इसके भयंकर परिणाम होंगे। वैज्ञानिक भी चिन्तित हैं कि ओजोन परत यदि अधिक टूट गई तो पृथ्वी पर विनाश-लीला का दृश्य उपस्थित हो जायेगा। फिर भी वे औद्योगीकरण को कम नहीं करते, सुख-सुविधाओं को नित्य नये-नये आविष्कार करके बढ़ाते जाते हैं, स्पूतनिक, सोयुज और इन्सेन्ट छोड़ने की होड़ लगी है।

वनस्पति संरक्षण-वनस्पति—पेड़-पौधे, प्राणिजगत के लिए ऊर्जा के स्रोत हैं, जीवन के आधार हैं। लेकिन आज अन्धाधुन्ध रूप से वनों

को काटा जा रहा है, कृषि-योग्य भूमि को समाप्त किया जा रहा है, सिर्फ इसलिए कि अफसरों, नेताओं और सुविधाभोगी वर्ग के लिए विशाल और आलीशान बंगलों तथा कोठियों का निर्माण किया जा सके।

लेकिन वनों की कटाई और कृषि-भूमि पर भवन-निर्माण का परिणाम रेगिस्तान के फैलाव में सहायक हो रहा है। साथ ही वनों के अभाव से वायु की अस्वच्छता भी बढ़ती जा रही है।

जिस वृक्ष आदि वनस्पतिकाय के लिए जैन शास्त्रों ने हजारों वर्ष पूर्व ही कहा था कि इनकी शरीर रचना और मानव की शरीर रचना, वृक्षों की संवेदना और मानव की संवेदना बहुत कुछ मिलती-जुलती है। वृक्ष वनस्पति मानव जाति के लिए परम उपकारक सखा व मित्र तुल्य हैं। उनके लिए अब आज जब प्रदूषण की भयंकरता से मनुष्यों का दम घुटने लगा है तब वह नारा दे रहा है—

वृक्ष धरा के भूषण हैं
करते दूर प्रदूषण हैं

इसी प्रकार जल के अनियमित उपयोग की

मर्यादा, भूमि की व्यर्थ खुदाई का परिहार आदि विषयों पर जैन धर्म ने मानव जीवन को अत्यन्त उपकारक सन्देश दिया है जो आज के सन्दर्भ में जीवन-सन्देश बन रहा है।

इन पाँचों स्थावरकाय जीवों की बेतहाशा हिंसा मनुष्य के लिए आत्मघाती प्रवृत्ति सिद्ध होगी।

त्रस जीवों की सुरक्षा और संरक्षण भी पृथ्वी के संतुलन के आवश्यक अंग हैं। यह तर्क व्यर्थ है कि पशुओं की संख्या अधिक बढ़ जायेगी तो मानव को रहने को स्थान भी नहीं मिलेगा। सच्चाई यह है कि प्रकृति का अपना एक संतुलन है जिसे वह अपने नियमित चक्र से स्वयं ही स्थिर रखती है।

पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि सभी की इस संतुलन में अदृश्य—अनजानी भूमिका है। प्रकृति स्वयं ही इन जीवों का ह्रास और विकास संतुलन की आवश्यकता के अनुसार करती रहती है। त्रस जीवों की हिंसा करके प्रकृति की व्यवस्था में मानव का हस्तक्षेप, उसके स्वयं के लिए भी हानिप्रद सिद्ध हो रहा है।

बन्दर, मोर, सुअर और उल्लू जैसे प्राणी भी प्रकृति में मनुष्य की सुरक्षा, जीव-जन्तुओं का त्राण, गन्दगी की सफाई आदि कार्यों के लिए आज अतीव उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं, जिनका घात मनुष्य बेरहमी से करता रहा है।

सच्चाई यह है कि ये सभी त्रस और स्थावर जीव मानव के सुखी जीवन में आवश्यक सहयोग करते हैं अतः मानव को भी इनका विनाश न करके इनके साथ सहयोग करना चाहिए। उनके सुखी जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण करना चाहिए। यही अहिंसा है।

इसीलिए जैन धर्म ने जीवन-संदेश के रूप में अहिंसा को आधार रूप दिया। मानव जितना भी अहिंसक बनता जायेगा, पर्यावरण प्रदूषण उतना ही कम होता जायेगा। प्रकृति उतनी ही स्वच्छ और अनुकूल रहेगी।

प्रदूषण के अनेक प्रकार

उपर्युक्त पंक्तियों में पर्यावरण प्रदूषण की चर्चा की गई है लेकिन प्रदूषण के अनेक प्रकार

हैं—मानसिक प्रदूषण, वचन सम्बन्धी प्रदूषण आदि।

मानसिक प्रदूषण विचारों—अशुभ विचारों से प्रसार पाता है। मानव अपने मन में यह समझता है कि मैंने किसी व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या, क्रोध आदि आवेशों से प्रभावित होकर चिन्तन व आचरण किये तो इससे किसी अन्य को क्या मतलब? किसी का क्या बुरा हुआ? यह तो मेरे तक ही सीमित है, मेरा निजी मामला है।

लेकिन ऐसे व्यक्ति भ्रम में हैं। इस संसार में निजी मामला किसी का होता ही नहीं। सभी जीव परस्पर एक-दूसरे से संस्पर्शित हैं और इसी कारण प्रभावित भी होते हैं। दूरस्थ आकाश के अन्य ग्रहों को भेजे जाने वाले स्पूतनिक-यान आदि किसी प्रकार के दृश्य तार आदि से वैधशाला के यंत्रों से जुड़े नहीं होते, फिर भी वैधशाला में बैठा वैज्ञानिक लैसर आदि किरणों के प्रयोग से उन यानों की गतिविधि—प्रत्येक हलचल पर नजर रखता है और यहाँ तक कि उनका मार्ग भी बदल देता है। उनकी मरम्मत भी कर देता है।

विचारों की तरंगें लैसर आदि किरणों से अधिक शक्तिशाली होती हैं। एक व्यक्ति के शुभ विचारों का भी दूसरों पर प्रभाव पड़ता है और अशुभ विचारों का भी। लकड़हारा कुल्हाड़ी लेकर वृक्ष के पास से निकला तो वृक्ष भय से काँपने लगा और माली पास आया तो हर्ष से झूम उठा। यह दूरबीनों से देख लिया गया है।

वृक्ष पर यह दोनों प्रकार का प्रभाव किस का था? लकड़हारे और माली की भावनाओं का—उनकी विचार-तरंगों का ही तो प्रभाव था। जब वनस्पति जगत—एकेन्द्रिय प्राणियों, जिनकी चेतना बहुत ही अल्प विकसित होती है, उन पर इतना अनुकूल और प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तब विकसित चेतना वाले प्राणियों पर तो कितना प्रभाव पड़ता है, यह सरलता से समझा जा सकता है।

इसीलिए जैन धर्म के जीवन-सन्देश में कहा गया है कि मन में किसी भी प्रकार के अशुभ विचार मत रखो, अपने अपकारी और शत्रु के प्रति भी कल्याण कामना रखनी चाहिए। वैर और विरोध किसी से भी न करें। कहा गया

है—जिस प्रकार रक्त से सना वस्त्र रक्त से साफ नहीं होता, जल से ही साफ होता है; उसी प्रकार वैर की अग्नि वैर से शान्त नहीं होती, उसकी उप-शान्ति के लिए क्षमा का जल ही आवश्यक है। प्रेम से प्रेम मिलता है।

वचन का प्रदूषण तो सभी को प्रत्यक्ष अनुभूत है। कहावत है—संसार तो एक कूप के समान है। जैसी आवाज कूएं में दोगे, वैसी ही प्रतिध्वनि गूँजेगी। मीठे वचन बोलने से मीठे ही शब्द सुनने को मिलेंगे। सामने वाला भी प्रेम से बात करेगा।

रहीम ने कहा भी है—

रहिमन मीठे वचन से, सुख उपजै चहुँ ओर।
वशीकरण एक मंत्र है, तज दे वचन कठोर॥

कितना सीधा और सरल उपाय है—सुख-शांति का, जीवन में सफलता प्राप्त करने का। अधिकांश सफल व्यक्तियों में यह मधुर वचन बोलने का गुण अवश्य होता है ।

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—

छह प्रकार के वचन नहीं बोलने चाहिए—(१) असत्य वचन (२) तिरस्कारयुक्त वचन (३)

झिड़कते हुए वचन (४) कर्कश-कठोर चुभते वचन (५) अविचारपूर्ण वचन (६) शांत हुए कलह को फिर से उभाड़ने वाले उत्तेजक वचन।

क्योंकि इन वचनों से प्रदूषण फैलता है, विरोध, विषमता और उत्तेजना बढ़ती है। एक व्यक्ति ने कठोर वचन कहे तो दूसरा भी ऐसे ही शब्द मुख से निकालेगा और इसी प्रकार तीसरा, चौथा भी.........इस प्रकार पूरे समूह में उत्तेजना व्याप्त हो जायेगी, वचन प्रदूषण पूरे समूह व समाज में फैल जायेगा।

जैसे शांत सागर में एक कंकड़ फैंक दिया जाय तो उस स्थान से उठी तरंगें तट तक आ पहुँचती हैं, उसी प्रकार एक कटुवचन रूपी कंकड़ सारे समाज को उद्वेलित कर वचन प्रदूषण फैला देता है। एक वचन की चिनगारी युद्ध की ज्वाला भड़का देती है।

इसीलिए वचन-विवेक जैन धर्म के जीवन-सन्देश का एक प्रमुख पहलू है।

वचन प्रदूषण का एक अन्य रूप आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की देन है। वह है

शोर-ध्वनि (Noise)। यह ध्वनि प्रदूषण सर्वत्र व्याप्त है। नगरीय जन तो शोर से त्रस्त हैं ही, अब तो ग्रामों में भी यह प्रदूषण फैलने लगा है।

रेल, बस, कार, स्कूटर, मोटर साइकिल आदि के हॉर्नों की तीखी ध्वनियाँ—कानफोड़ कर्कश आवाज लोगों की श्रवण-शक्ति को कमजोर बनाए दे रही है। हवाई-अड्डों के पास बसी कोलोनियों के निवासियों की श्रवण शक्ति पर वायुयानों के कटुतम तीव्र शोर का बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

ध्वनि प्रदूषण का एक रूप और भी है और वह है—ट्रांजिस्टर, रेडियो, टी. वी. आदि। तथा सबसे बढ़कर है सिनेमा। ट्रांजिस्टर, रेडियो तो ध्वनि तक ही सीमित हैं। लेकिन टी. वी. और सिनेमा श्रव्य के साथ-साथ दृश्य भी हैं। इनके अश्लील गाने, तड़क-भड़क वाली पोशाकें, दृश्य आदि मन को भी विकारी बना देते हैं। जैसे दृश्य आँखों से देखे जाते हैं, वैसे ही विचारों से मन-मस्तिष्क यहाँ तक शरीर भी उत्तेजित हो जाता है।

समाज में हिंसा, हत्या, षड्यंत्र, तस्करी

आदि प्रवृत्तियों को बढ़ाने में सिनेमाओं के दृश्य मुख्य कारण हैं। अनेक मासूम युवक सिनेमा देखकर हत्यारे और लुटेरे बन जाते हैं।

इस प्रकार ये प्रदूषण के अनेक रूप हैं और इनसे बचने के लिए जैन धर्म ने अहिंसा और संयम का सन्देश दिया। अहिंसा के साथ ही जैन धर्म का दूसरा सन्देश है—अपरिग्रह। अपरिग्रह भी मानव को इन सभी प्रकार के प्रदूषणों से बचाता है।

अपरिग्रह

यह जैन धर्म का दूसरा महत्वपूर्ण जीवन सन्देश है। अपरिग्रह के अर्थ दोनों ही हैं—अल्प-परिग्रह और परिग्रह का सम्पूर्णतया अभाव।

परिग्रह कहा गया है—मूर्च्छा को, ममत्व को; और अपरिग्रह है—ममता का, ममत्व का, मूर्च्छा का अभाव अथवा इनकी अल्पता।

मूर्च्छा का अभाव अथवा अल्पता सैद्धान्तिक है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि एक ओर तो व्यक्ति परिग्रह बढ़ाता जाय, कोठी, कार, स्कूटर, बँगले तथा अत्याधुनिक साधनों की

भरमार और धन को निरन्तर वृद्धिंगत करता जाय और दूसरी ओर मुख से यह प्रचारित करे कि मुझे इन वस्तुओं में कोई ममत्व नहीं है। यह तो विडम्बना ही होगी। व्यक्ति के द्वैध चरित्र का ही प्रगटीकरण होगा।

वस्तुतः ममत्वभाव का अभिप्राय है—स्वामित्व-भाव, मेरा और मेरेपन की छाप। जब तक मनुष्य के मन में है कि—यह कोठी, कार आदि वस्तुएँ मेरी हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, मैंने अपने बुद्धि, कौशल, परिश्रम और भाग्य संयोग से उपार्जित किया, मेरे पास इतनी संपत्ति है, मेरे पास इतना धन आदि है; तब तक वह अपरिग्रही नहीं है, उसे परिग्रही ही कहा जायेगा।

आधुनिक युग की यह विचित्रता ही है कि नित नयी वस्तुओं का आविष्कार हो रहा है। और यह भी सत्य है कि वे वस्तुएँ जीवन में सुख-सुविधा का साधन बनती हैं। इसी कारण व्यक्ति उनकी ओर ललचाता है और उन्हें खरीद लेता है।

परिग्रह, लोभ-लालच-लिप्सा-लिप्तता का

प्रगट रूप है। लोभ आदि मानसिक स्तर पर होते हैं, वे अदृश्य रहते हैं, दिखाई नहीं देते; उनका प्रगट रूप बाह्य वस्तुओं में दिखाई देता है।

ऐसा भी होता है कि बाह्य परिग्रह की मात्रा तो अल्प है किन्तु मन में लालच भरा है, इच्छाएँ जोर मार रही हैं कि अमुक वस्तु भी मेरे पास होनी चाहिए और अमुक भी; लेकिन विवश है, उनको खरीदने के, प्राप्त करने के साधन उसके पास नहीं हैं। ऐसा अतृप्त व्यक्ति भी परिग्रही है। उसके हृदय में न शांति है और न सन्तोष। अपितु हाय-हाय लगी हुई है।

इसी कारण जैन धर्म ने जीवन-सन्देश के रूप में अपरिग्रह को स्थापित किया और कहा—**लोभो संतोसओ जिणे**—लोभ को संतोष द्वारा जीतना चाहिए। मन-मस्तिष्क में संतोष की अवस्थिति होते ही लोभ की भावना पलायन कर जाती है और साथ ही वस्तुओं के संग्रह की इच्छा भी समाप्त हो जाती है।

परिग्रह का सामाजिक प्रभाव भी दुष्प्रभाव के रूप में सामने आता है । धन का एकत्रीकरण

अन्य व्यक्तियों के जीवन में अभावग्रस्तता का कारण बनता है। परिणामस्वरूप समाज में विद्रोह, वर्ग संघर्ष, अराजकता की स्थिति निर्मित होती है और उस स्थिति में धनी अथवा परिग्रही व्यक्ति भी स्वयं को सुरक्षित नहीं समझ पाते। उनका वैभव ही उनके लिए चिन्ताओं का कारण बन जाता है।

दूसरी ओर परिग्रह हिंसा का कारण भी बनता है और साथ ही भगवान महावीर द्वारा दिये गये जीवन-सन्देश 'जीओ और जीने दो' की भावना के विपरीत मनःस्थिति निर्मित करता है। क्योंकि धन को एकत्र करने वाले परिग्रही व्यक्ति अन्य मनुष्यों के जीवन को सुखद बनाने में सहयोग नहीं कर पाते।

इसी कारण अपरिग्रह जैन धर्म-सिद्धान्त के अनुसार जीवन जीने की एक विशिष्ट पद्धति है।

अनाग्रह

अनाग्रह जैन धर्म का विशिष्ट जीवन दर्शन है। यह सैद्धान्तिक भी है और व्यावहारिक भी है तथा प्रयोगात्मक भी है।

आग्रह का अभिप्राय है—अपनी मान्यता, विचारधारा का पक्षपात या जिद रखना तथा यह कोशिश करना कि अन्य लोग भी उस मान्यता को स्वीकार करें, उसे आचरण में लायें। आग्रही व्यक्ति सोचता है, जैसा मैं सोचूं वैसा सब सोचें, जैसा मैं कहूं सब वैसा ही करें।

आग्रह में बल-प्रयोग, जबरदस्ती, दबाव आदि का भी प्रयोग किया जाता है। अपनी बात को मनवाने के लिए छल-बल के प्रयोग में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं किया जाता।

इसके विपरीत अनाग्रह में होती है—सरलता। व्यक्ति सरलतापूर्वक, स्वच्छ हृदय से व्यक्ति के सामने वस्तु का, किसी भावना का तथा वस्तुस्थिति का सत्यस्वरूप प्रगट कर देता है, हानि-लाभ, गुण-अवगुण बता देता है और निर्णय उस व्यक्ति के विवेक पर छोड़ देता हैं, वह चाहे तो उसे स्वीकार करे अथवा न करे—यह पूर्णतया उसकी इच्छा पर निर्भर है। अनाग्रह दूसरों की इच्छा का आदर करता है, दूसरों की बुद्धि पर विश्वास करता है। इस दृष्टि से अनाग्रह शांति और सरलता का

राजमार्ग है, मानव सम्मान का सिद्धान्त है। और आग्रह विप्लव, विकलता और अशांति एवं संघर्ष का।

जैन आगमों में अनाग्रह का स्वर ही गूँज रहा है। भगवान महावीर स्वयं तथा उनके अनुयायी श्रमण वर्ग साधना के इच्छुक व्यक्ति को यथातथ्य उपदेश देते हैं, सत्यस्थिति का ज्ञान करा देते हैं; लेकिन यह आग्रह कभी भी नहीं करते कि तुम श्रमणत्व ग्रहण कर लो, दीक्षित हो जाओ।

यदि वह व्यक्ति स्वयं ही व्रत आदि लेने की प्रार्थना करे तब भी इतना ही कहते हैं—

जहासुहं देवाणुप्पिया!

हे देवानुप्रिय! जिसमें तुम्हें सुख हो, वैसा करो।

न कोई दबाव, न जबरदस्ती और न किसी प्रकार का प्रलोभन कि श्रमण या श्रावक बन जाने के बाद तुम्हें संसार में यश-कीर्ति की प्राप्ति होगी और आयु समाप्त होने पर स्वर्गों के सुख भोगोगे। यह भय भी नहीं कि श्रमणत्व या श्रावकव्रत धारण न किये तो नरक के घोर दुःख

एवं कष्ट भोगने पड़ेंगे।

यह विशिष्टता जैन धर्म की अपनी है। जहाँ अन्य धर्मों में आग्रह ही दिखाई देता है। वहाँ स्वर्गों के सुखभोग के प्रलोभन भी हैं और नरकों के कष्टों का भय भी।

एक पश्चिमी विद्वान ने स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"सभी धर्म-प्रचारक एक हाथ में ऊँची ध्वजा और दूसरे हाथ में कीचड़ से भरी बाल्टी लिये घूमते हैं और लोगों से कहते हैं—हमारे धर्म को स्वीकार कर लोगे तो स्वर्ग के सुख पाओगे अन्यथा नरक की कीचड़ में गिरना पड़ेगा।

लगभग सभी धर्म-प्रवर्तक और उपदेष्टाओं का एक ही वाक्य है—हे मानव! सभी अन्य धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जा, मैं तेरे सारे पापों का नाश कर दूँगा।

यह आग्रह के ही विभिन्न रूप हैं। किसी व्यक्ति को मीठी-मीठी, चिकनी-चुपड़ी बातों में फुसलाना, प्रलोभन देना, चमत्कार दिखाकर अपनी ओर आकर्षित करना, उसे प्रभावित

करना और इतने पर भी व्यक्ति पर असर न हो, वह बेअसर रहे तो उसे विभिन्न प्रकार के दवाब देना, बल प्रयोग करना, जोर-जबरदस्ती करना, किसी भी प्रकार अपने ताबे में लाना।

डेल कार्नेगी ने अपनी पुस्तक हाउ टु इन्फ्लुएन्स पीपुल एण्ड विन फ्रेण्ड्स (How to influence people and win friends) में एक बात कही है—कभी भी अपने विचारों का आग्रह मत करो और यह कोशिश भी न करो कि सामने वाला व्यक्ति आपके मत को स्वीकार कर ही ले। सिर्फ सुझाव देकर चुप हो जाओ। आप स्वयं देखोगे कि उस व्यक्ति ने आपके सुझाव पर अमल करना शुरू कर दिया है, दूसरे शब्दों में आपके विचारों को मान लिया है।

इस प्रक्रिया को वह मित्रता तथा अन्य लोगों को प्रभावित करने का अचूक नुस्खा मानता है।

डेल कार्नेगी के इन विचारों में भी जैन धर्म के अनाग्रह सिद्धान्त की गूँज ही सुनाई दे रही है।

कल्पना करिए—आपका पुत्र है, अभी चार-पाँच वर्ष का है, किसी वस्तु को लेने की

इच्छा करता है, यदि आपने विरोध कर दिया तो हठ पकड़ लेगा, आपकी प्यार भरी मीठी बातें और यहाँ तक कि झिड़कियाँ भी व्यर्थ जायेंगी। अतः उस समय आप अपनी उचित बात का भी आग्रह न करें। आप स्वयं देखेंगे कि कुछ देर बाद जब हठ का फितूर उसके दिमाग से निकल जायेगा तो वह स्वयं ही आपकी बात को खुश होकर स्वीकार कर लेगा।

क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। आप आग्रह करेंगे तो सामने वाला व्यक्ति भी अपनी बात पर अड़ जायेगा, आपका विरोध करेगा, उसके हृदय में आपके प्रति विद्वेष जागृत होगा। हो सकता है, वह आपसे घृणा करने लगे, बात करने से भी कतराये।

यदि कोई व्यक्ति दबाव में आकर आपके आग्रह को स्वीकार कर भी ले तो अन्दर ही अन्दर सुलगता रहेगा, आपके प्रति उसके मन में कटुता उत्पन्न हो जायेगी।

इसीलिए कहा गया है कि आग्रह विरोध को बढ़ाता है। अनाग्रह विरोध उत्पन्न होने की स्थिति ही नहीं आने देता। अनाग्रही व्यक्ति के

सुझाव को स्वीकार करने वाला व्यक्ति अपनी स्वेच्छा से ही स्वीकार करता है। उसकी इच्छा ही सर्वोपरि होती है। इसीलिए आग्रह और दवाब में ग्रहण किये गये नियम-व्रत आदि खण्डित हो जाते हैं और स्वेच्छा से लिए गये नियमों का व्यक्ति दृढ़तापूर्वक निष्ठा से पालन करता है।

अतः अनाग्रह व्यक्ति के चरित्र को स्वच्छ बनाता है, उसमें दृढ़ता और निर्भीकता का संचार करता है, स्व-निर्णय और इच्छाशक्ति तथा संकल्पशक्ति को विकसित करता है।

अनेकान्त (स्याद्वाद)

विश्व-मानव के वैचारिक जगत को अनेकान्तवाद जैन धर्म की अनुपम देन है। यह वैचारिक विरोधों को उपशान्त करने में सक्षम सिद्धान्त है। अनेकान्त एक वाद है, विचारधारा है और स्याद्वाद है कथन-शैली, कथन का प्रकार।

स्याद्वाद सिद्धान्त अपेक्षा पर आधारित है। किसी एक अपेक्षा से कथन करना स्याद्वाद की शैली है।

उदाहरणार्थ—राम अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, बहन की अपेक्षा से भाई है और पत्नी की अपेक्षा से पति भी है।

इस प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से एक ही राम नाम के व्यक्ति में परस्पर विरोधी जैसे दिखाई देने वाले रूप समाविष्ट हैं। उन रूपों को समझना और मानना ही स्याद्वाद है।

स्याद्वाद में दो शब्द हैं—स्याद् और वाद। स्याद् का अर्थ है—कथंचित्, किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टिकोण से और वाद का अभिप्राय है कथन का प्रकार अथवा शैली।

यद्यपि बहुत-से मनीषियों और विचारकों ने स्याद्वाद की कटु आलोचना की है; किन्तु उनकी इस आलोचना का कारण उनका दृष्टिभ्रम ही है, उन्होंने इस सिद्धान्त को समझे बिना ही इस पर अपने विचार प्रगट करने का साहस किया है ।

स्याद्वाद चाहे अपने इस नाम से न सही, किन्तु, जगत व्यवहार का निर्धारण करने वाला है, इसी के अनुसार संसार का सारा व्यापार

और व्यवहार सहजता-पूर्वक चलता है।

स्याद्वाद नय-सापेक्ष होता है और अंग्रेजी में नय के लिए पोइन्ट ऑफ व्यू point of view—शब्द का प्रयोग होता है। नय का अभिप्राय ही है—वक्ता का दृष्टिकोण, उसका अभिप्राय।

अँग्रेजी बोलने वाले बात-बात में कहते हैं—I mean to say—आई मीन टु से (मेरा अभिप्राय यह है) माई पोइन्ट ऑफ व्यू इज़ दिस My point of view is this (मेरा दृष्टिकोण यह है) इन शब्दों में स्याद्वाद की ही झलक प्राप्त हो रही है।

तत्व का निर्णय करने के लिए स्याद्वाद बहुत ही वैज्ञानिक प्रणाली है। वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है। उन अनेक धर्मों को स्याद्वाद द्वारा ही समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ—कोयला काला होता है; किन्तु उसमें श्वेत चमकदार वस्तु की अवस्थिति भी है, जो हीरे के रूप में जाना जाता है। वैज्ञानिकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है और काले-कलूटे कोयले से हीरे बनाकर संसार

के समक्ष प्रस्तुत कर भी दिये हैं। सिद्धान्त रूप में वस्तु के अन्दर सन्निहित ऐसे परस्पर विरोधी गुणों को स्याद्वाद द्वारा ही समझा तथा विवेचित किया जा सकता है।

विद्वानों ने स्याद्वाद को बहुत ही जटिल सिद्धान्त कहा है किन्तु यदि समझने का प्रयास किया जाय तो यह अति सरल सिद्धान्त है। इसे छोटा बच्चा भी समझ सकता है।

एक जैन साधु से किसी बालक ने जिज्ञासा की—महाराज! आपका स्याद्वाद सिद्धान्त क्या है?

साधुजी ने अपनी कनिष्ठिका और अनामिका अँगुली दिखाकर पूछा—इनमें कौन सी अँगुली बड़ी है?

बालक ने अनामिका बड़ी बताई।

साधुजी ने अब अनामिका और मध्यमा अँगुली दिखाकर पूछा तो उसने अनामिका को छोटी बताया।

साधुजी ने समझाया—वत्स! कनिष्ठिका की अपेक्षा अनामिका बड़ी है और मध्यमा की अपेक्षा छोटी, बस यही स्याद्वाद है।

बालक शीघ्र ही स्याद्वाद को समझ गया।

स्कूल-कालेजों में रेखागणित आदि विषय पढ़ाते समय भी सापेक्षवाद का प्रयोग किया जाता है; जैसे—अमुक कोण अमुक कोण से बड़ा है और अमुक से छोटा है। इसी प्रकार रेखाओं आदि को समझाने में भी सापेक्षता सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है।

ऐसा उपयोगी जीवन-सन्देश जैन धर्म की ही देन है।

समत्व

समत्व जैनधर्म का वह जीवन सन्देश है, जो ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, तुच्छ और उच्च की संकीर्ण विचारधाराओं को जड़-मूल से समाप्त करके सुख की सरिता बहाता है।

जैन धर्म की मान्यता है कि सभी प्राणियों में जीव-आत्मा-चेतन का निवास है, सभी जीव गुणों में समान हैं। जैसा जीव हाथी में है वैसा ही चींटी में, जैसा सर्प में वैसा ही सिंह में, श्वान में यहाँ तक कि क्षुद्रातिक्षुद्र प्राणियों में भी और मानव में भी।

जब जीव की दृष्टि से सभी प्राणी समान हैं

तो कौन छोटा, कौन बड़ा, कौन उच्च और कौन तुच्छ?

इस प्रकार समत्व भाव वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को मूर्तिमन्त रूप देता है। न सिर्फ मनुष्य तक ही इसकी दृष्टि सीमित है अपितु प्राणीमात्र ही इसकी परिधि में आ जाता है।

समत्व की भावना का जीवन में बहुत महत्व है। जब कोई बड़ा नहीं है तो अभिमान कैसा? और तुच्छ नहीं है तो हीनता का अवकाश ही कहाँ है? इस प्रकार यह अभिमान रूपी दुर्गुण से मनुष्य को बचाता है तो हीनत्व भाव भी उसमें नहीं आने देता, हीन ग्रन्थि से भी बचाता है।

इन दोनों अतियों से सुरक्षित करके वह व्यक्ति को अपने अक्ष—अपने केन्द्र और अपने सद्गुणों में लीन होने का तथा उन्हें बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

ऐसा व्यक्ति, जिसके मन में ममत्व अवस्थिति पा चुका हो, वह व्यक्ति ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि दुर्गुणों से दूर रहता है। भेद की भावना उसके हृदय के किसी कौने में भी नहीं

रहती। इसी कारण वह स्वयं न किसी संघर्ष में उलझता है और न अपने किसी क्रिया-कलाप से ऐसी स्थितियाँ ही उत्पन्न करता है, जिनमें किसी प्रकार का संघर्ष, विरोध, विप्लव आदि पनप सके।

समताभावी जीव के हृदय में राग-द्वेष की अल्पता होती है वह न किसी से इतना राग करता है कि उसके मोहबंधन में ही बँध जाय और न किसी के प्रति इतना द्वेष ही कि उसके प्रति घृणा ही हृदय में घर कर जाय।

वह हर्ष-शोक, भय-दुख, पीड़ा-कष्ट, लाभ-हानि आदि द्वन्दों में न हाय-हाय करता है और न सुख में फूलकर कुप्पा हो जाता है। उसकी मान्यता होती है—हानि-लाभ, जीवन-मरण, जस-अपजस विधि हाथ।

यह भावना उसके समत्व का मूलाधार होती है।

समताभावी यद्यपि अपने दुःखों को समत्व भाव से सहन कर उनकी पीड़ा व व्याकुलता से अप्रभावी रहता है, लेकिन यह समझना भ्रान्ति ही होगी कि वह परदुखकातर नहीं होता,

किसी व्यक्ति को पीड़ित और दुखी देखकर उसके हृदय में करुणा का उद्रेक नहीं होता।

वस्तुतः समत्व और कारुण्य सहचर हैं। जहाँ समत्व होगा वहाँ करुणा अवश्य होगी। करुणारहित समत्व तो सूखे ठूँठ के समान है, जिसके होने, न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता।

समत्वभावी व्यक्ति भी समाज में रहता है। वह समाज से सहयोग लेता है तो देता भी है। वह अन्य अभावग्रस्त, दुखी-पीड़ित-कष्टित प्राणियों मनुष्यों की यथाशक्ति सेवा-सहायता करता है।

जिसने समत्व धारण कर लिया है, वह समाज के लिए और भी अधिक उपयोगी हो जाता है।

समत्व को गीता में भी योग कहा है— **समत्वं योग उच्यते।** लेकिन वहाँ समत्व से सिद्धि-असिद्धि, हानि-लाभ में हर्ष-शोक न करके केवल कर्म करने की प्रेरणा दी गई है। जबकि जैन धर्म द्वारा जीवन संदेश के रूप में समत्व करुणा-दया आदि कोमल भावों से समन्वित है। अतः जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित

समत्व का क्षेत्र विशाल है और प्राणी मात्र के लिए इसकी उपयोगिता भी अधिक है।

कर्म सिद्धान्त

कर्म, प्राणी की वृत्ति-प्रवृत्ति, क्रिया-प्रक्रिया से उत्पन्न उस ऊर्जा को कहा जाता है, जो प्राणी को अपने आवरण में ले लेती है, उसके साथ चिपक जाती है, दूध-पानी के समान एकमेक हो जाती है और योग्य समय अपना फल प्रदान करती है।

प्राणी की शुभ प्रवृत्तियों से शुभ कर्मों का उपार्जन एवं संचय होता है और अशुभ प्रवृत्तियों अशुभ कर्मों का, और इनका फल भी शुभ और अशुभ के रूप में प्राणी को भोगना पड़ता है। कहा गया है—

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवंति।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला हवंति ॥

यद्यपि अन्य दर्शनों ने भी कर्म-सिद्धान्त को माना है और स्वीकार किया है कि मानव को अपने किये कार्यों का फल मिलता है। लेकिन उन्होंने फल प्रदान का उत्तरदायित्व ईश्वर को सौंपा है। साथ ही यह व्यवस्था भी

की है कि ईश्वर चाहे तो जीव को उसके किये कर्मों का फल न भी दे, अथवा अत्यल्प दे, या बढ़ादे।

किन्तु यह मान्यता तर्कसंगत नहीं है। यदि ईश्वर इस प्रकार का पक्षपात करेगा तो उसके ईश्वरत्व में ही दोष लग जायेगा।

इसीलिए जैन धर्म ने फल-प्रदान करने में किसी अन्य माध्यम को स्वीकार ही नहीं किया। जैन मान्यता के अनुसार कर्म स्वयं ही फल देते हैं। स्वयं करो, स्वयं भरो—यह कर्म थ्योरी का मूल है ।

कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता

कर्म, उनके बन्ध, उदय, उदीरणा, फल-प्रदान शक्ति, कर्म की निर्जरा, झड़ जाना आदि रूप में कर्म सिद्धान्त की जैन दर्शन में बड़ी गहराई से समीक्षा और मीमांसा की गई है, तलस्पर्शी विवेचन किया गया है। इसका कारण यह है कि कर्मों का ज्ञान मानव की आध्यात्मिक उन्नति का हेतु तो बनता ही है, व्यावहारिक जीवन में भी इसकी अत्यधिक उपयोगिता है।

नैतिक जीवन का प्रेरक

एक स्थान पर बैंजामिन फ्रेंकलिन ने कहा

था कि जब धर्म के होते हुए भी मानव के आचार में इतनी बुराइयाँ, कटुता आदि निम्नगामी और समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं तो यदि धर्म न होता तो इस संसार की क्या दशा होती ?

इन शब्दों में यद्यपि धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु यह विषय कर्म से विशेष सम्बन्धित है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि बुरे कर्म का परिणाम बुरा ही होता है। यदि चोरी करूँगा, किसी व्यक्ति की हिंसा करूँगा या और कोई गलत काम करूँगा तो निश्चित रूप से कभी न कभी पकड़ा जाऊँगा और परिणाम-स्वरूप जेल की सजा भी भोगनी पड़ेगी।

कर्मफल का इतना विश्वास तो उन व्यक्तियों को भी है, जो नास्तिक हैं, पुनर्जन्म-पूर्वजन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते। लेकिन जो लोग आस्तिक हैं, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को मानते हैं, वे तो मन में यह भी समझते हैं कि अगले जन्म में भी इन बुरे कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। यहां पर जो कुछ मिल रहा है वह भी हमारे पूर्वजन्म के कर्म का फल है।

जो लोग ईश्वर अथवा धर्मराज को न्यायकर्ता और दण्डाधिकारी के रूप में स्वीकार करते हैं, उनमें यह कहावत प्रचलित है कि ईश्वर को क्या जबाब देंगे अथवा खुदा को क्या मुँह दिखायेंगे ? एक कवि के शब्दों में-

सजन रे झूठ मत बोलो खुदा के पास जाना है।

न रिश्वत है, सिफारिश है, न कोई बहाना है।।

इस मनःस्थिति के कारण कर्म-सिद्धान्त को थोड़ा भी जानने वाले और उस पर अल्पतम विश्वास रखने वाले लोगों ने नैतिकता, सदाचार और धर्म के मूल्य को समझा तथा अपने जीवन को नैतिक बनाने का प्रयत्न किया। कर्म सिद्धान्त से हमारा जीवन पुरुषार्थी बनता है और नैतिक मर्यादाओं का पालन करने में स्थिर रहता है।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त मानव को नैतिक जीवन व्यतीत करने की एक प्रबल प्रेरणा प्रदान करता है।

सुख-दुःख में तितिक्षा

कर्म-सिद्धान्त के ज्ञान का दूसरा बड़ा

लाभ है कि यह मनुष्य में तितिक्षा भाव जगाता है।

मानव जीवन बड़ा ही विचित्र है। कभी आपत्ति-विपत्तियों के काले कजराले बादल मँड़राते हैं तो कभी सुख की सुरीली स्वर लहरियां झनझनाती हैं, कभी ऐसा भी होता है कि अन्य व्यक्ति व्यर्थ ही शत्रुता की गाँठ बाँध लेता है, अपना पुत्र ही शत्रु के समान आचरण करने लगता है, दुर्व्यसनों में फँस जाता है और लाख प्रयत्न करने पर भी व्यसनों को नहीं छोड़ता, घोर परिश्रम से उपार्जित संपत्ति को धूल के समान उड़ा देता है। यहाँ तक कि स्त्री भी नागिन के समान फुंकारती है। सदाचारी और सरल स्वभावी पति पर भी विश्वास नहीं करती। संशय का नाग प्रतिपल उसके मन-मस्तिक में विषभरी फुंकार मारता रहता है।

इन परिस्थितियों में सामान्य मानव विचलित हो जाता है। समझ ही नहीं पाता कि क्या उपाय किया जाय? वह निराशा के झूले में झूलने लगता है, उसे सारा संसार ही अंधकारपूर्ण दिखाई देने लगता है।

कभी ऐसा भी होता है कि मानव अपनी बुद्धि से खूब सोच-समझकर लाभ के लिए व्यापार करता है, लेकिन हो जाती है हानि। वह समझ ही नहीं पाता कि अन्य लोग उसी व्यापार में लाखों कमा रहे हैं, तो वह अपनी पूँजी भी क्यों गँवा बैठा?

लेकिन जो व्यक्ति कर्म सिद्धान्त को जानता है, उस पर विश्वास करता है, वह यह सोचकर धैर्य धारण कर लेता है कि मेरे पूर्वजन्मों में उपार्जित पापकर्मों का उदय चल रहा है, इसी कारण सभी परिस्थितियाँ विपरीत हो गई हैं। जब पुण्य का उदय आएगा, अन्तराय टूटेगी तब सभी परिस्थितियाँ अनुकूल बन जायेंगी। वह सोच लेता है—

हाय दिल घबराय मत,
आज गम की रात है।
फिर वही दिन आ जायेंगे,
दो-चार दिन की बात है॥

इस प्रकार गमों, दुखों, कष्टों के घोर अँधियारे में कर्म सिद्धान्त एक आशा का दीप उसके हाथ में थमा देता है। जिसके प्रकाश में

वह अपने दुर्दिनों में अधिक व्यथित नहीं होता।

इसी प्रकार वह सुख के दिनों में, अनुकूल परिस्थितियों में गुब्बारे की तरह नहीं फूलता, क्योंकि वह जानता है कि जब तक पुण्य का उदय है, भाग्य अनुकूल है तभी तक ये ठाठ-बांट हैं, पत्नी अनुकूल है, स्वजन-सम्बन्धी भी मेरी पूछ करते हैं, समाज मुझे आदर प्रदान करता है और जिस दिन भी अशुभ कर्मों का झकझोरा आया, भाग्य प्रतिकूल हुआ कि ये ठाठ-बाट संध्या की लालिमा के समान अन्धकार में डूब जायेंगे, ये ऊँचे-ऊँचे भवन ताश के पत्तों की तरह बिखर जायेंगे, मेरी कोई बात भी नहीं पूछेगा, पारिवारिक जन मुझे दूध में पड़ी मक्खी के समान निकालकर फैंक देंगे।

अतः वह सुख में मग्न होकर अहंकारी नहीं बनता।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त मानव को एक ओर अहंकार, मान, गर्व से बचाता है तो दूसरी उसके मन-मस्तिष्क में हीन-ग्रन्थि भी नहीं पनपने देता। दीनता व निराशा रक्षा करता है।

यह सिद्धान्त मानव में धैर्य, तितिक्षा,

सुख-दुख-समभाव और साहस एवं पुरुषार्थ आदि गुणों को बनाए रखता है और हताशा-निराशा, भग्नाशा जैसी निम्न कोटि की वृत्तियों को उसके पास नहीं आने देता।

मुक्ति-प्राप्ति में सहायक

कर्म सिद्धान्त के ज्ञान का प्रयोजन भगवान महावीर ने सूत्रकृतांग सूत्र में इस प्रकार बताया है-

बुज्झिज्ज तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया।

—मानवो ! तुम्हें बोध प्राप्त करना चाहिए और बंधन (कर्मबन्धन) को तोड़ना चाहिए।

कर्मबन्धन को तोड़ने या टूटने का अर्थ आत्मिक शुद्धि में वृद्धि—आत्मा की उन्नति है।

जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त तूँबा सागर-तल में नीचे बैठ जाता है, पतन को प्राप्त होता है; उसी प्रकार कर्मरज से लिप्त आत्मा भी पतित हो जाता है, बोझिल हो जाता है और जिस प्रकार मिट्टी के लेप हट जाने से तूम्बा सागर तल पर तैरने लगता है, इसी प्रकार आत्मा भी कर्मरज के हट जाने से हल्का होकर

मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

इसी बात को एक अध्यात्मवादी मनीषी ने इन शब्दों में कहा है—

रे, जानकर बंधन स्वभाव,
स्वभाव जान जु आत्मा का।
जो बन्ध में ही विरत होवे,
कर्म मोक्ष करे अहा ॥

जैन दर्शन के जीवन सन्देश के रूप में कर्म सिद्धान्त अथवा कर्मवाद की यही विलक्षण विशेषता है कि यह व्यावहारिक जीवन में मानव को तितिक्षा, धैर्य, समसुख-दुख-भाव, समत्व, पुरुषार्थ आदि का सबल प्रेरक है; उच्च भाव और हीनभाव से मानव को दूर रखता है; तथा आत्मा को उन्नति के सोपानों पर चढ़ने के लिए सहायक की भूमिका निभाता है एवं मुक्ति प्राप्ति में— आत्मा को सर्वतंत्र-स्वतंत्र होने के पथ को प्रशस्त करने में निमित्तभूत बनता है।

आत्म-स्वातंत्र्य

आत्म-स्वातंत्र्य अथवा जीव की स्वतंत्रता, अनन्त सामर्थ्य— यह जैन धर्म का एक निराला जीवन-सन्देश है।

जैन धर्म का घोषित सिद्धान्त है– **अप्पा सो परमप्पा**-आत्मा ही परमात्मा है। एक कवि के शब्दों में-

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।
कर्म मैल का आंतरा, बूझै बिरला कोय ॥

सिद्ध और संसारी आत्मा गुणों की दृष्टि से दोनों ही एक समान हैं; सिर्फ कर्ममल का ही अन्तर अथवा फर्क है।

जीव जब अपने पुरुषार्थ से– रत्नत्रय की साधना से कर्म-मल को हटा देता है तो यह जीव ही परमात्मा बन जाता है।

जैसे वस्त्र मैला हो गया, उसे साबुन क्षार आदि और जल के संयोग से धोया तो वह साफ हो गया। यही दशा जीव की है वह कर्म-मल के संयोग से गन्दा हो रहा है, कीचड़ में लिप्त हो रहा है, रत्नत्रय रूपी साबुन, क्षार और तपरूपी जल से धोने पर वह स्वच्छ हो जाता है।

आत्म-स्वातंत्र्य नीतिशास्त्र का भी एक प्रत्यय है; लेकिन वहाँ विशेष रूप से अपनी इच्छा-पूर्ति तक ही सीमित है। गीता के

"कर्मण्येवाधिकारस्ते" में भी आत्म-स्वातंत्र्य का कुछ स्वर सुनाई देता है लेकिन वहाँ भी इसे कर्म करने तक ही सीमित कर दिया गया है। जबकि जैन दर्शन के आत्म-स्वातंत्र्य की कोई सीमा नहीं, कोई मर्यादा नहीं, इस पर किसी प्रकार का बंधन नहीं। यह आत्मा के अबाधित, मर्यादाहीन स्वातंत्र्य की उद्- घोषणा करता है। यही जैन धर्म के आत्म-स्वातंत्र्य की विशेषता है।

जैन धर्म के अनुसार आत्मा अपने पुरुषार्थ से असीमित उन्नति करके स्वयं परमात्मा बन सकता है, जबकि अन्य दर्शनों में ईश्वर कृपा प्राप्ति तक ही इसकी सीमा निर्धारित कर दी गई है। वहाँ सिद्धान्त है कि जीव कितना भी पुरुषार्थ कर ले, जीव ही रहेगा, परमात्मा नहीं बन सकता, परमात्मा बनने की उसमें शक्ति ही नहीं है।

लेकिन जैन धर्म में उसके (आत्मा के) स्वातंत्र्य की पूर्ण रक्षा की गई है। उसकी शक्ति अनन्त बताई गई है। वह अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य का अधिकारी है। उसमें यह

शक्तियाँ सदा अवस्थित रहती हैं। वह चाहे तभी इन शक्तियों को अपने ही निजी पुरुषार्थ से, बिना किसी अन्य व्यक्ति या देवी-देव की सहायता लिए, अभिव्यक्त कर सकता है, परमात्मा बन सकता है।

जीव का यह स्वातंत्र्य जैनं धर्म की अपनी निजी विशेषता है; जिसकी झलक भी अन्यत्र नहीं मिलती। पुरुषार्थ की प्रेरणा, कर्म के अनुसार फल की प्राप्ति और आत्मा की सार्वभौम स्वतंत्रता— जैन धर्म का यह मौलिक जीवन-सन्देश है।

व्यसनमुक्त जीवन

जैन धर्म का व्यसन-मुक्त जीवन नाम का जीवन- सन्देश व्यावहारिक और आध्यात्मिक सुखी जीवन के लिए अति महत्वपूर्ण है। जिस व्यक्ति में किसी प्रकार का व्यसन नहीं होता, वह सुखी रहता है। रोग, शोक, चिन्ता, दुख, दरिद्रता आदि उसके पास भी नहीं आते।

व्यसनों की तुलना उन कीचड़ भरे गड्ढों से की जा सकती है, जिनके ऊपर मखमली घास और विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे, सुन्दर सुमन

खिले हुए हैं। जैसे ही व्यक्ति उन्हें लेने जाता है, वह कीचड़ में फँस जाता है और **नो हव्वाए, नो पाराए**—न इधर का रहता है और न उधर का। वह व्यसन रूपी कीचड़ में ही फँसकर रह जाता है।

व्यसन सुखी जीवन के वे पिस्सू हैं जो प्लेग की तरह जीवन को जकड़ लेते हैं।और तभी पीछा छोड़ते हैं जब मानव पूरी तरह बरबाद हो जाता है, शरीर जर्जर होकर शमशान घाट पहुँच जाता है।

व्यसन, व्यक्ति की वे बुरी आदतें हैं, जिनको वह शौक के रूप में शुरू करता है और यह शौक फिर उसके जीवन में इतना प्रभावी हो जाता है कि मानव को चारों ओर शोक ही शोक दिखाई पड़ता है।

यों तो जितनी भी बुरी आदतें हैं, वे सभी व्यसन हैं। इस प्रकार व्यसनों की संख्या अत्यधिक है किन्तु इनमें सात प्रमुख हैं—

जूयं मज्जं वेसा पारद्धि चोर परयारं।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि।।

इसे एक हिन्दी कवि ने निम्न दोहे में कहा है–

जूआखेलन मांसमद वेश्यागमन शिकार।
चोरी पररमणीरमण, सातों व्यसन निवार।।

इनमें से एक-एक व्यसन भी व्यक्ति की दुर्दशा करने के लिए काफी है और जिसे सातों व्यसन लग जायं, उसकी दुर्गति की तो कल्पना ही की जा सकती है।

पहला व्यसन है जूआ। यह ऐसा बेमुरब्बत है कि किसी का भी न हुआ। जिसने भी जूआ खेला वही बरबाद हुआ, वन-वन भटका और घोर कष्टों में घिरा। प्राचीन काल के उदाहरणों में राजा नल और धर्मराज युधिष्ठिर का नाम प्रसिद्ध है। महाभारत के महाविनाशकारी युद्ध का कारण भी द्यूत-क्रीड़ा ही थी।

आधुनिक युग में सट्टा, अंक फीचर, ताश के पत्तों से खेला जाने वाला आदि जूए के अनेक प्रकार प्रचलित हैं।

प्रजातंत्र युग का नया जूआ है कि अमुक

पार्टी अथवा अमुक उम्मीदवार जीतेगा या हारेगा, अमुक दल के इतने (संख्या में) सदस्य जीतेंगे आदि। इस पर भी लाखों करोड़ों रुपयों की हार-जीत हो जाती है। प्रत्यक्ष-दर्शी जानते हैं कि इस प्रकार के सौदों में जो हार जाता है, वह बरबाद हो जाता है । उसके दुकान, मकान भी बिक जाते हैं, बच्चे दाने-दाने को मोहताज हो जाते हैं। विदेशों में बड़े-बड़े होटल जूआघर “केसीनो” बढ़ते जा रहे हैं, जहाँ मनोरंजन के लिए या धनपति बनने के लिए लोग जाते हैं परन्तु रोते हुए फकीर बनकर निकलते हैं।

मांस, मानव का भोजन ही नहीं है, यह राक्षसी भोजन है। मांसाहारी व्यक्ति में करुणा, दया, कोमलता आदि मानवीय गुणों की हानि हो जाती है, वे ठहर ही नहीं पाते, उनका स्थान क्रूरता, कठोरता आदि दुर्गुण ले लेते हैं। मांसाहार से अनेक रोग भी हो जाते हैं।

मद्यपान से कितने परिवार नष्ट हुए हैं, गिनती नहीं की जा सकती। एक अनुसंधान कर्त्ता के अनुसार जितने व्यक्ति युद्ध की-ज्वालाओं में मरे उनसे कई गुने अधिक शराब

की प्याली में डूब गये, जर्जर होकर मर गये।

शराब की आदत एक ऐसी बुरी लत है जो मानव शरीर को छलनी बना देती है। शराबी सभी प्रकार के कुकर्म करता है। वह अपने घर को तो बरबाद करता ही है, सामाजिक शांति को भी भंग कर देता है। अपने परिवार के लिए भी काँटे बो देता है।

शराब वेश्यागमन और चोरी के लिए व्यक्ति को उकसाती है। पैसों के लिए वह चोरी करता है और अधिक धन पा जाने पर वह उसका दुरुपयोग वेश्यागमन में करता है।

वेश्या समाज की ऐसी गन्दी नाली है, जहाँ कामी पुरुष अपने को गन्दगी से लिप्त करते हैं और तन-धन की होली जलाते हैं।

शिकार मानव की उस क्रूर वृत्ति का द्योतक है, जिसमें हिंसा की प्रधानता होती है। हिरन आदि निरीह पशु तथा चिड़िया, कबूतर आदि भोले पक्षी शिकारियों का निशाना बनते हैं। मछली को काँटे में फँसाना भी शिकार का ही एक रूप है। शिकारी व्यक्ति क्रूर तो होते ही

हैं। लेकिन यदि शिकार किया जाने वाला पशु शक्तिशाली हुआ अथवा शिकारी का निशाना चूक जाता है तो उसके प्राणों पर आ बनती हैं।

ऐसे रिस्की गेम को मानव खेलता ही क्यों है ? शायद इसीलिए कि उसकी जिह्वा इन्द्रिय की तृप्ति हो।

परस्त्रीगमन तो वेश्यागमन से भी बुरा है। परस्त्री- गामी की समाज में बहुत दुर्दशा होती है। रावण का कितना बुरा अन्त हुआ, यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

व्यसनों का सबसे बुरा प्रभाव यह होता है कि ये मनुष्य को पाँचों पापों की ओर अग्रसर करते हैं अथवा इन्हें पाँचों पापों की पूर्वपीठिका कहा जा सकता है।

कहा जाता है कि व्यसनी की पाँच पीढ़ी दुख भोगती हैं । व्यसनी के माता-पिता, दादा-दादी उससे दुखी होते हैं, और व्यसनी की संतान पुत्र-पौत्र परिवार भी समाज में नीची दृष्टि से देखे जाते हैं।

मांसाहार और शिकार तो हिंसा हैं ही,

इसी प्रकार वेश्यागमन और परस्त्रीसेवन भी अब्रह्म का ही रूप है। शराब आदि सभी दुर्व्यसन चोरी आदि पापों के लिए प्रेरित करते हैं।

इसी कारण जैन धर्म के जीवन-सन्देश में व्यसन- मुक्त जीवन जीने का सन्देश दिया गया है।

उपसंहार

जैन धर्म यद्यपि मुख्य रूप से मोक्षवादी दर्शन है, इसका लक्ष्य भी आत्म-शुद्धि की सर्वोत्कृष्ट दशा मुक्ति ही है तथा अहिंसा अथवा जीवमात्र का संरक्षण—उसे अभय करना, इस धर्म के आचार-विचार का मूल आधार है किन्तु इसका दृष्टिकोण—आयाम अत्यधिक विस्तृत है, जीव की—प्राणी मात्र की छोटी से छोटी प्रवृत्ति, सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारकण भी इस धर्म के विस्तृत आयाम के वितान में सन्निहित हो जाते हैं।

इसका सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ जीवन सिद्धान्त है— जीओ और जीने दो तथा इस

सिद्धान्त में समस्त जीव और यहाँ तक कि अजीव के भी पारस्परिक सहयोग की प्रेरणा अन्तर्निहित है। यह समूचा विश्व ही सहयोग के आधार पर संचालित है।

इस धर्म के जीवन-सन्देशों में प्रदूषण से मुक्ति के साथ नैतिक और धार्मिक जीवन के उपाय भी बताये गये हैं, शरीर की स्वस्थता तथा स्फूर्तमयता के लिए ऊनोदरी आदि तप का विधान किया है तथा वैचारिक संघर्ष को समाप्त करने के लिए अनाग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं तो सामाजिक सुव्यवस्था से लिए अपरिग्रह का महत्व बताया गया है।

इस प्रकार जैन धर्म के जीवन-सन्देश मानव मात्र को सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करने में सक्षम और समर्थ है। प्रत्येक मानव इन जीवन सन्देशों का पालन करके अपने जीवन को सभी प्रकार से सुखी बना सकता है। ■

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

जैन तत्वविद्या के प्रज्ञापुरुष सिद्धहस्त लेखक

जन्म : वि. सं. १९८८, धनतेरस, ७ नवम्बर, १९३१

दीक्षा : ईस्वी सन् १ मार्च १९४१

उपाचार्य पद : १२ मई, १९८७, पूना श्रमण सम्मेलन पर

0 बर्फ के टुकड़े की तरह यह जीवन प्रतिक्षण गलता जा रहा है । पूरब की धूप की तरह यह जीवन प्रतिपल पश्चिम की ओर ढलता जा रहा है । मानव ! सावधान हो ! बर्फ के गलने से पहले, दिन के ढलने से पहले उसका सदुपयोग कर लो ।

0 तुम्हारे विचारों की तस्वीर भले ही सुन्दर है, मनमोहक है, किन्तु जब तक वह आचार के फ्रेम में नहीं मढ़ी जा सकती, तब तक जीवन रूपी गृह की शोभा कैसे बढ़ायेगी ?

विचारों की तस्वीर को आचार के फ्रेम में मढ़वा दो ! तस्वीर भी चमक उठेगी और घर भी !

— **उपाचार्य देवेन्द्रमुनि**

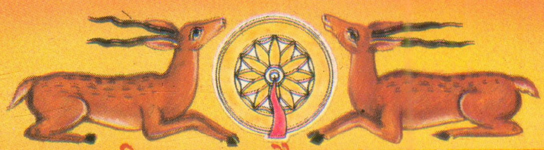

प्रकाशक : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर